अनुबोधन, खण्ड 2, अंक 2, अप्रैल–जून 2026, पृष्ठ 54–58
जर्नल वेबसाइटः
https://anubodhan.org
ISSN: 3049-4184 (प्रिन्ट) 3108-1185 (ऑनलाइन)
https://doi.org/10.65885/anubodhan.v2n2.2026.059

भारतीय दर्शन में कर्म की अवधारणा

डॉ० कमलेश कुमार सिंह [1]

प्राप्तिः 28 मई 2026 / संशोधित: 4 जून 2026 / स्वीकृतः 5 जून 2026 / प्रकाशित ऑनलाइन: 12 जून 2026
Copyright © 2026 Author(s). Published by Siri Research Foundation. This is an open access article distributed under the Creative Commons Attribution International License (CC BY 4.0).

सारांश
भारतीय दर्शन में कर्म की अवधारणा मानव जीवन, नैतिकता और आध्यात्मिक विकास से संबंधित है। भारतीय दार्शनिक परम्परा में कर्म को केवल भौतिक क्रिया के रूप में नहीं, बल्कि मनुष्य के संकल्प, विचार, वाणी और व्यवहार से उत्पन्न नैतिक परिणामों के रूप में समझा गया है। कर्म का सिद्धान्त इस विश्वास पर आधारित है कि प्रत्येक कर्म का एक निश्चित फल होता है जो वर्तमान या भविष्य में, यहाँ तक कि अगले जन्मों में भी प्राप्त हो सकता है। कर्म का सिद्धान्त जीवन में व्याप्त असमानताओं, सुख–दुःख, भाग्य और पुनर्जन्म की व्याख्या करने का एक महत्वपूर्ण आधार प्रस्तुत करता है। इस शोध आलेख में वैदिक, उपनिषदिक, गीता, बौद्ध, जैन, योग, वैशेषिक, मीमांसा एवं वेदान्त दर्शन में कर्म की अवधारणा का विश्लेषण किया गया है। वैदिक परम्परा में कर्म मुख्य रूप से यज्ञीय एवं धार्मिक अनुष्ठानों से संबद्ध था, जबकि उपनिषदों में इसे नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से परिभाषित करते हुए पुनर्जन्म और मोक्ष के साथ जोड़ दिया गया। बौद्ध दर्शन में कर्म का आधार चेतना को मानते हुए इसे अनात्मवाद और प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्तों से जोड़ दिया गया। वहीं जैन दर्शन कर्म को सूक्ष्म भौतिक कणों के रूप में स्वीकार करते हुए उसे बंधन का कारण स्वीकार करता है। सम्यक् दर्शन, ज्ञान एवं आचरण के द्वारा इन कर्मों का क्षय कर मोक्ष प्राप्त करता है। वैशेषिक दर्शन में सात पदार्थों के अन्तर्गत कर्म की व्याख्या गति के रूप में की गई है। योग दर्शन में कर्म की व्याख्या क्लेष, कर्म संस्कार एवं कर्मफल के सन्दर्भ में की गई है। भगवद्गीता में कर्मयोग की शिक्षा दी गई है। मीमांसा दर्शन में जहाँ कर्म की कर्मकाण्ड मूलक व्याख्या की गई है वहीं वेदान्त दर्शन में कर्म की तत्वमीमांसीय व्याख्या की गई है। अतः विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं में कर्म की व्याख्याओं में भिन्नता होने पर भी सर्वमान्य धारणा यह है कि मनुष्य अपने कर्मों का स्वयं उत्तरदायी है और उसके कर्म ही भविष्य का निर्माण करते हैं। इस प्रकार कर्म की अवधारणा भारतीय चिंतन की आधारशिला के रूप में मानव जीवन को नैतिक, आध्यात्मिक और सामाजिक दिशा प्रदान करती है।
मुख्य शब्दः कर्म, कर्मफल, पुनर्जन्म, बंधन, मोक्ष, नैतिक नियम, भारतीय दर्शन

प्रस्तावना
कर्मवाद का सिद्धान्त भारतीय दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है। भारतीय विचारधारा में ईश्वरवाद और आत्मवाद से भी अधिक महत्व कर्म सिद्धान्त को प्राप्त है। ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी, आत्मवादी एवं अनात्मवादी, वैदिक एवं अवैदिक, आस्तिक एवं नास्तिक सभी विचारधाराएं कर्मवाद एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास करती हैं। केवल चार्वाक दर्शन इस विचारधारा का अपवाद है। विश्व में शाश्वत नैतिक व्यवस्था की मान्यता के पृष्ठभूमि में कर्मवाद का सिद्धान्त ही है। इस शाश्वत नैतिक व्यवस्था में

[1] सहायक प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र विभाग, बी० एम० डी० कॉलेज, दयालपुर, वैशाली (बिहार)
✉ डॉ० कमलेश कुमार सिंह, E-mail: singhk280@gmail.com

किसी भी प्रकार का अपवाद या व्यवधान नहीं पाया जाता है। इसे वेदों में ऋत कहा जाता है। वेदों में कर्म सिद्धान्त का विवेचन ऋत की अवधारणा के रूप में हुआ है।[1] जीव के शरीर धारण को उसका बन्धन माना गया है, किन्तु भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदायों में आत्म तत्व के स्वरूप का विश्लेषण भिन्न होने के कारण बंधन एवं मोक्ष की व्याख्या में भेद हो गया है। षड़दर्शन की मूल भावना यही है कि अज्ञान के वशीभूत होकर जीव (आत्मा) शरीर धारण करने के बाद कर्म की ओर प्रवृत्त होता है जिससे वह बन्धन (Bondage) और मुक्ति (liberation) के चक्र में उलझ जाता है। जीव या आत्मा का यह व्यावहारिक रूप है। वास्तविक रूप में वह नित्य और मुक्त है। जीव के बन्धन में कर्म प्रधान कारण होता है।

भारतीय दर्षन में कर्म (Action) की अवधारणा अत्यंत केन्द्रीय और व्यापक है। भारतीय दर्शन में कर्म का संबंध केवल शारीरिक एवं बाह्य क्रियाओं तक सीमित नहीं है, बल्कि नैतिकता, पुनर्जन्म, भाग्य एवं मोक्ष जैसे गूढ़ दार्शनिक विषयों से जुड़ी हुई है। विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं में कर्म सिद्धान्त की व्याख्या अलग अलग दृष्टिकोण से की गई है। समान्य अर्थ में कर्म शब्द संस्कृत के कृ धातु से बना है जिसका अर्थ होता है करना या क्रिया करना। भारतीय दार्शनिक परम्परा में कर्म के तीन स्तर माने जाते हैं पहला कायिक कर्म जिसका सम्बन्ध शारीरिक क्रिया से होता है जिसे हम शरीर के बाह्य अंगों द्वारा संपादित करते हैं। दूसरा वाचिक कर्म जिसका संबंध हमारे वाणी से होते हैं। शब्द प्रमाण इसी वाचिक कर्म द्वारा संपादित होते हैं। तीसरा मानसिक कर्म है जो विचार, चिंतन, संवेदना के माध्यम से संपादित किए जाते हैं। भारतीय दर्शन के लगभग सभी सम्प्रदायों में कर्म सिद्धान्त को मजबूती से मान्यता मिली है। हम जैसा कर्म करते हैं वैसा फल हमें प्राप्त होता है। इसे कर्म–फल सिद्धान्त कहते हैं। भारतीय दर्शन में ऐसी मान्यता है कि कर्म का सिद्धान्त व्यक्ति के अतीत जीवन, वर्त्तमान जीवन एवं भविष्य जीवन से गहराई से जुड़ा है। प्रत्येक कर्म का फल (परिणाम) हमें प्राप्त होता है। यह फल हमें तुरंत भी प्राप्त हो सकता है या भविष्य में भी मिल सकता है। यह कर्मवाद का सिद्धान्त ही भारतीय दर्शन में पुनर्जन्म की अवधारणा को आधार प्रदान करता है जिसे चार्वाक को छोड़कर सभी आस्तिक एवं नास्तिक सम्प्रदायों ने स्वीकृति प्रदान की है। कर्म सिद्धान्त नैतिक न्याय की स्थापना करता है। कर्म सिद्धान्त भाग्यवाद और पुरुषार्थ में संतुलन स्थापित करता है। सामान्यतः हम मानते है कि जहाँ से कर्म की सीमा समाप्त होती है वहाँ से भाग्य की सीमा प्रारंभ होती है। कर्म का सिद्धान्त हमें उत्तरोत्तर विकास के लिए प्रेरित करता है और जीवन को उत्तरदायित्वपूर्ण बनाता है। भारतीय दर्षन में कर्म केवल क्रिया नहीं है बल्कि जीवन का नैतिक और आध्यात्मिक नियम है। कर्म सिद्धान्त हमें बताता है कि हर कर्म का परिणाम निश्चित होता है। व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है एवं अपने कर्मों से मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

भारतीय दर्शन में कर्म का दो अर्थों में प्रयोग किया जाता है। प्रथम अर्थ में यह कर्म सिद्धान्त है जो कर्म के नियमों का बोध कराता है। इस नियम के अनुसार कर्मों के पुण्य और पाप सुरक्षित रहते हैं जो समयानुसार कर्त्ता को अपना फल देते हैं। यह कर्म–फल संबंध का सिद्धान्त है। इसके अनुसार कृतप्रणाश और अकृताभ्युपगम नहीं होता अर्थात् किए हुए कर्मों के फल का नाश नहीं होता है और नहीं किए हुए कर्मों का फल भी नहीं मिलता है। इससे स्पष्ट है कि शुभ कर्मों का फल शुभ और अशुभ कर्मों का फल अशुभ होता है। सुख और दुःख हमें क्रमशः शुभ एवं अशुभ कर्मों के फल के रूप में प्राप्त होते हैं। नैतिकता के क्षेत्र में यह कारण–कार्य नियम के रूप में स्थापित है। दूसरे अर्थ में कर्म शब्द से उस शक्ति का बोध होता है जिससे कर्मफल उत्पन्न होता है। इस दृष्टिकोण से कर्म के तीन भेद होते हैं। प्रारब्ध कर्म – यह ऐसी कर्म शक्ति है जो अतीत में किए गए कर्मों द्वारा उत्पन्न होती है और जिसका फल मिलना शुरू हो गया है। संचित कर्म – यह ऐसी कर्म शक्ति है जो अतीत में किए गए कर्मों द्वारा उत्पन्न होती है लेकिन जिसका फल मिलना अभी शुरू नहीं हुआ है। क्रियामाण या संचीयमान कर्म – ऐसा कर्म जिन्हें मनुष्य वर्तमान समय में करता है एवं जिसका परिणाम भविष्य में मिलेगा। संचीयमान कर्म ही भविष्य में प्रारब्ध एवं संचित कर्म का रूप लेता है। यहाँ एक समस्या आती है कि यदि प्रारब्ध कर्म बहुत पहले किया जाता है और वर्तमान में उसका फल मिलता है तो इस अन्तराल में कहाँ पर रहता है ? बौद्ध दर्शन में इसके लिए वासना की, वैशेषिक दर्शन में अदृष्ट की, मीमांसा दर्शन में अपूर्व की और न्याय दर्शन में धर्माधर्म की कल्पना की गई जिसमें उक्त अवधि में कर्म रहता है और समय आने पर फल देता है। जैन दर्शन मानता है कि कर्ता (आत्मा) कर्म के द्वारा पाप–पुण्य से जुड़ा रहता है। इसी संयोग से उसे समय आने पर फल मिलता है। सांख्य–योग के अनुसार कर्म के द्वारा उत्पन्न

पाप–पुण्य बुद्धि में रहते हैं और कालान्तर में फल प्रदान करते हैं। वेदान्त सम्प्रदाय के अनुसार कर्म ईश्वर को समर्पित हो जाते हैं और ईश्वर ही उनके कर्मों का शुभ या अशुभ फल प्रदान करता है। इस प्रकार प्रत्येक भारतीय सम्प्रदाय कर्म–फल की अवधारणाओं का समाधान प्रस्तुत करता है।

भगवद्गीता में कर्म को योग के साधन एवं मुख्य शिक्षा के रूप में स्वीकार किया गया है। इसे आत्मलाभ के साथ लोक–संग्रह की सिद्धि का साधन माना गया है। भगवद्गीता में कर्म शब्द का प्रयोग कर्तव्य, यज्ञ, ईश्वरोपासना, स्वधर्म या वर्णधर्म अर्थात् सामाजिक कर्तव्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। भगवद्गीता में कहा गया है कि –

न हि कष्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।
कार्यते ह्यवषः कर्म सर्वः प्रकृतिजैगुणः।।[2]

अर्थात् मनुष्य एक क्षण भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता है, क्योंकि सभी लोग प्रकृति के सत्व, रज एवं तम गुणों द्वारा प्रभावित होकर कर्म करते हैं। जीवन मुक्ति (सदेह मुक्ति) के बाद भी जगत् एवं लोक कल्याण के लिए गीता में कर्म करना आवश्यक माना गया है। बुद्ध, कृष्ण, राजा जनक आदि पूर्णता की प्राप्ति के बाद भी कर्म करते रहे। मनुष्य का अधिकार कर्म करने तक ही सीमित है कर्मफल उसके वश में नही है। कर्मयोगी अपना–पराया की बुद्धि, इन्द्रिय, मन और शरीर से परे होकर केवल अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं।

बौद्ध दर्शन में कर्म सिद्धान्त को प्रतीत्यसमुत्पाद से जोड़ा गया है। कारण–कार्य श्रृंखला में अविद्या के बाद संस्कार अर्थात् कर्म दुःख के चक्र को बनाए रखता है। जब नए कर्म बनना बंद हो जाते हैं, और पुराने कर्मों का प्रभाव समाप्त हो जाता है तो निर्वाण की प्राप्ति होती है। यह आष्टांगिक मार्ग के पालन से संभव होता है जिसके अन्तर्गत सम्यक् कर्म की चर्चा की गई है। बौद्ध दर्शन में कर्म का अर्थ चेतन क्रिया के रूप में किया गया है। पूर्व कर्मों के कारण उत्पन्न प्रवृत्तियाँ संस्कार कहलाती हैं। यह संस्कार ही रूप, वेदना और संज्ञा स्कन्धों के मध्य समन्वय स्थापित करती है। कर्म करने के लिए हमारे अन्दर संकल्प या मानसिक प्रवृत्तियों का उत्पन्न होना ही संस्कार कहा जा सकता है। वृषल–सूत्र (सुत्तनिपात) में कहा गया है कि जन्म से कोई वृषल या ब्राह्मण नहीं होता। कर्म से वृषल या ब्राह्मण होता है।[3]

जैन दर्शन में कर्म को केवल नैतिक फल देने वाला अमूर्त सिद्धान्त नहीं माना गया है बल्कि इसे सूक्ष्म भौतिक कण (पुद्गल) माना गया है जो आत्मा से वास्तविक रूप से जुड़कर जीव को बन्धन में डाल देता है। कर्म जीव के अन्दर प्रवेश कर उसे जन्म लेने के लिए बाध्य करता है। जीव अविद्या से ग्रस्त होकर कर्म करता है जहाँ अन्य आस्तिक दर्शन में कर्म को स्वतः निष्क्रिय माना जाता है लेकिन जैन आचार मीमांसा में बन्धन की प्रक्रिया में कर्म अपने से प्रवृत्त होकर जीव से संयुक्त हो जाता है। प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जीव कर्म क्यों करता है ? जीव का आनादि काल से अविद्या से संबंध है और इसी अविद्या से प्रभावित होकर कर्म करने लगता है एवं उसका वास्तविक स्वरूप तो अवरूद्ध होता ही है साथ में अपने मूल स्वरूप को भूल जाता है जिससे उसमें अविरति (वास्तविक स्वरूप के विषय में उदासीनता) एवं प्रमाद (कर्मफल अर्थात् पाप–पुण्य के विषय में उदासीनता) उत्पन्न होता है। जीव में अविरति एवं प्रमाद से कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) जैसी कुप्रवृत्तियाँ पैदा होती हैं। इन्हीं कुप्रवृत्तियों के कारण जीव कर्म की ओर उन्मुख होता है। यह कर्म करने की कुप्रवृत्ति मनुष्य में कायिक, वाचिक एवं मानसिक स्पन्दनों के कारण होती है जिसे जैन दर्शन में योग कहते हैं। यहाँ योग को पारिभाषिक अर्थ में लिया गया है। इस प्रकार जैन दर्शन में मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से संयुक्त होकर जीव कर्म करने के लिए आकर्षित होता है और यही बन्धन का कारण है।[4] 'द्वयोरपि जीवकर्मर्णोः सम्बन्धः संयोगः सबन्ध नाम।'[5] अर्थात् जैन दर्शन में जीव को चेतन पदार्थ माना गया है जो स्वाभाविक रूप से पूर्ण एवं अनंत है। अपने पूर्व जन्म के कर्मों के फलस्वरूप जीव अनेक योनियों से सम्बद्ध होकर अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। जीव के इस कर्म सम्बन्ध को ही जैन दर्शन में बन्धन कहा गया है। जैन दर्शन में जीव का एक अन्य लक्षण भी मिलता है। तत्वार्थाधिगम सूत्र के रचनाकार उमास्वाति के अनुसार जीव का लक्षण उपयोग है। जीव का चैतन्य स्वरूप चेतना का परिणाम है। चेतना के तीन प्रकार हैं – ज्ञान, भावना और कर्म। यही तीनों मिलकर उपयोग की अवधारणा को फलीभूत करते हैं। इस प्रकार ज्ञान की भावना से किसी कर्म को करना और उसका फल प्राप्त करना ही उपयोग है। इससे सिद्ध होता है कि जीव ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता है।[6]

योग दर्शन के अन्तर्गत योगसूत्र का दूसरा अध्याय सधनापाद है जिसमें क्लेष, कर्म और कर्मफल का वर्णन किया जाता है। 'क्लेषमूलः कर्माषयो दृष्टादृष्ट जन्मवेदनीयः'।[7] अर्थात् पाँच क्लेषों से कर्माशय (कर्मों का संग्रह) उत्पन्न होता है। ये कर्म वर्तमान और भविष्य दोनों जन्मों में फल देता है। 'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः'।[8] अर्थात् जब तक कर्म का मूल (क्लेष) बना रहता है तब तक कर्म और उनका फल मिलता रहता है। क्लेषों के नाश से कर्म का बंधन समाप्त होता है और मनुष्य मोक्ष (कैवल्य) को प्राप्त करता है।

यहाँ मनुष्य एवं ईश्वर में भिन्नता यह है कि जहाँ अन्य पुरुष कर्म करते हैं, उसके परिणामों जैसे सुख दुःख आदि को भोगते हैं एवं अतीत में किए गए कर्मों के संस्कारों से प्रभावित होते हैं। वहीं ईश्वर में क्लेषों का आभाव होने के कारण वह कर्म एवं कर्मफल से अप्रभावित रहता है। वह कर्म विधान से परे है। पुरुष ईश्वर प्रणिधान की अवस्था में अपने सभी कर्मों को ईश्वर को अर्पित करके सदा उनकी भावना में लीन रहता है। पुरुष जब बुद्धि में प्रकाशित अपने प्रतिबिम्ब से तादात्म्य स्थापित कर लेता है तो वह सांसारिक जीव के रूप में कर्म और पुनर्जन्म से आबद्ध होकर विभिन्न प्रकार के क्लेष (दुःख) भोगता है। कर्मों से क्लेष और क्लेषों से कर्म उत्पन्न होते रहते हैं। वहीं ईश्वर क्लेष, कर्म, विपाक (कर्मफल) और आशय (कर्मों के संस्कार) से सर्वथा अलग रहने वाला पुरुष विशेष ईश्वर है।

वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित सात पदार्थों में कर्म को भी स्वतंत्र पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। यहाँ कर्म को पारिभाषिक अर्थ में लिया गया है। यह गति के अर्थ में प्रयोग हुआ है। यहाँ कर्म अन्य दर्शन की शाखाओं की भाँति नैतिक विधान (कर्मवाद) के अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है। सात पदार्थों में द्रव्य ही सबसे महत्वपूर्ण पदार्थ है क्योंकि गुण, कर्म आदि पदार्थों की सत्ता द्रव्य पर आश्रित है। वैशेषिक सूत्र के अनुसार द्रव्य की परिभाषा बतलाते हुए कहा गया है कि द्रव्य वह है जो गुण तथा कर्म का आश्रय है।[9] कर्म की यथार्थ पदार्थ के रूप में सत्ता है और इनका ज्ञान अन्तर्दृष्टि से होता है।[10] द्रव्य कर्म के द्वारा ही गति करते हैं। कर्म द्रव्य का गतिशील धर्म है। पौधों में वृद्धि एवं मनुष्य, पशु आदि में प्रचलन इसी कर्म के द्वारा होता है। कर्म का स्वरूप क्षणिक होता है जो द्रव्य के विनाश के साथ समाप्त हो जाता है। कर्म केवल मूर्त द्रव्यों जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और मन में पाया जाता है। कणाद ने कर्म की परिभाषा देते हुए कहा है कि कर्म वह है जो एक ही द्रव्य में रहता है, गुणों से रहित है, संयोग एवं विभाग का सीधा एवं तात्कालिक कारण है।[11] वैशेषिक दर्शन में कर्म (गति) के पाँच प्रकारों उत्क्षेपण, अवक्षेपण, प्रसारण, आकुंचन एवं गमन का वर्णन किया गया है।

मीमांसा दर्शन के अन्तर्गत प्रभाकर मीमांसा में आठ पदार्थों की सत्ता का वर्णन हुआ है जिसमें कर्म की व्याख्या भी हुई है।[12] वहीं कुमारिल पाँच पदार्थों को ही स्वीकार करते हुए कर्म को भाव पदार्थ की श्रेणी में रखते हैं। मीमांसा दर्शन में कर्म की क्रियापरक व्याख्या वेद एवं धर्मशास्त्रों के आलोक में की गई है। जैसे मनुष्य द्वारा किन कर्मों को करना चाहिए और किन कर्मों को नहीं करना चाहिए। धर्म की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि वेद द्वारा निर्धारित कर्मों को करना और वेदों द्वारा वर्जित कर्मों को न करना ही धर्म है। मीमांसा दर्शन में सकाम कर्म और नित्य कर्म दो भेद माने गए हैं। सकाम कर्म के अन्तर्गत काम्य कर्म और प्रतिषिद्ध कर्म की चर्चा की गई है। सकाम कर्म किसी फल या इच्छा पूर्ति के लिए किया जाता है। इसके अन्तर्गत काम्य कर्म वह है जो किसी निश्चित फल की प्राप्ति के उद्देश्य से किये जाते हैं। इन कर्मों को करने से पुण्य का संचय होता है लेकिन नहीं करने से पाप नहीं होता है। इसके विपरीत निषिद्ध कर्मों को करना वर्जित होता है। इन कर्मों को न करने से पुण्य की प्राप्ति नहीं होती लेकिन करने से पाप का संचय होता है। नित्य कर्म को फल की आशा से नहीं किया जाता है। नित्य कर्म परिणाम निरपेक्ष होता है। जैसे संध्या, वंदना, प्रार्थना आदि। वे किसी साध्य के साधन नहीं होकर स्वयं साध्य होते हैं। मीमांसा के नित्य कर्म की अवधारणा कान्ट के 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य' सिद्धान्त से मिलती है। मीमांसा इन कर्मों को करने का आधार वेद वाक्य को मानता है क्योंकि वेद में इन कर्मों को संपादित करने का विधान किया गया है। उसी प्रकार नैमित्तिक कर्म को विशेष अवसरों पर किया जाता है। मीमांसा में कर्म को ही बंधन एवं मुक्ति का कारण माना गया है। इस प्रकार काम्य एवं प्रतिषिद्ध कर्मों के नहीं करने तथा नित्य और नैमित्तिक कर्मों के करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अद्वैत वेदान्त में कर्म का संबंध आत्मा या ब्रह्म से नहीं होता है। जीव का कारण शरीर से संबंध होने के चलते जीव ही कर्म करता है और उसका फल भोगता है, स्वरूप से वह भी कर्म नहीं करता है क्योंकि श्रुति में जीवात्मा का स्वरूप निष्क्रिय बताया गया है।[13] प्रश्न यह है कि वस्तुतः कर्म कौन करता है ? सामान्य रूप से हम मनुष्य को कर्म करने वाला मान लेते हैं लेकिन वास्तविकता ऐसी नहीं है। वेदान्त दर्शन में 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' की अवधारणा है अर्थात् जीवात्मा कर्म करता है क्योंकि विधि और निषेधमूलक शास्त्र की सार्थकता इसी में है। वस्तुतः जीवात्मा भी स्वरूप से कर्म नहीं करता है। अनादि कर्मों के संस्कार एवं इन्द्रियों, शरीर आदि के सम्बन्ध से स्वयं को कर्म का कर्ता समझने लगता है। जीवात्मा को प्रत्येक काम करने में सहकारी कारणों एवं बाह्य सामग्री की आवश्यकता होती है जिसके लिए वह हमेशा दूसरे पर आश्रित है। यहाँ यदि हम जीवात्मा को स्वरूप से कर्म करने वाला मान भी लें तो फिर समस्या यह उत्पन्न होती है कि समाधि की अवस्था सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि समाधि की अवस्था में कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाता है। यदि जीव में कर्म का कारण उसका स्वरूप धर्म या स्वाभाविक धर्म मान लें तो जिस प्रकार चेतना जीवात्मा का स्वरूप धर्म है उसी प्रकार यदि कर्म करना भी जीवात्मा का स्वरूप धर्म हो जाय तो इस वह

कभी भी निष्क्रिय नहीं हो सकता, परन्तु वास्तविक रूप से जीवात्मा का स्वरूप निष्क्रिय माना गया है। अतः जीवात्मा का अंतःकरण, इन्द्रियों एवं शरीर आदि से संबंध होने पर ही कर्म करना संभव होता है।

निष्कर्ष

जैसा कि हम जानते हैं कि भारतीय दर्शन विश्व की प्राचीनतम एवं समृद्ध दार्शनिक परम्पराओं में से एक है जिसमें मानव मूल्यों के मूलभूत प्रश्नों जैसे जन्म, मृत्यु, पुनर्जन्म, बंधन, मोक्ष आदि का गहन एवं सूक्ष्म अवलोकन किया गया है। इन सभी प्रश्नों के समाधन में कर्म की अवधारणा एक केन्द्रीय एवं मूलभूत तत्व के रूप में स्थापित है। भारतीय चिंतन परम्परा में कर्म केवल बाह्य क्रिया मात्र न होकर एक नैतिक नियम है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को उनके कर्मों के अनुसार परिणाम (फल) की प्राप्ति होती है चाहे वह इस जीवन में मिले या भविष्य के जन्मों में। यही कारण है कि कर्म सिद्धान्त को पुनर्जन्म और संसार चक्र से संबंधित माना गया है। अतः भारतीय दर्शन में कर्म की अवधारणा मानव जीवन की नैतिक संरचना तथा उसके आध्यात्मिक विकास का आधार प्रस्तुत करता है।

वर्तमान समय में भौतिकवादी और उपभोक्तावादी प्रवृत्ति तीव्रतर होती जा रही है, नैतिक मूल्यों का ह्रास एक गंभीर समस्या बन गई है। ऐसे समय में कर्म सिद्धान्त की प्रासंगिकता और भी बढ़ जाती है। यह मनुष्य को उसके कार्यों के प्रति उत्तरदायी बनाता है तथा उसे नैतिक आचरण अपनाते हुए जीवन जीने की प्रेरणा देता है। कर्म सिद्धान्त की अवधारणा से स्पष्ट है कि व्यक्ति अपने सुख–दुःख के लिए स्वयं उत्तरदायी है जिससे उसमें आत्म अनुशासन, कर्तव्यनिष्ठा और नैतिकता का विकास होता है। भारतीय दर्शन में ऐसी मान्यता है कि कर्म का सिद्धान्त व्यक्ति के अतीत जीवन, वर्तमान जीवन और भविष्य जीवन से गहराई से जुड़ा है। कर्म सिद्धान्त की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि यह मानव जीवन के नैतिक, आध्यात्मिक और दार्शनिक आयामों को गहराई से प्रभावित करता है। भारतीय दर्शन की विभिन्न शाखाओं में कर्म की व्याख्या अलग–अलग रूपों में की गई है किन्तु सभी का मूल आधार यह है कि प्रत्येक कर्म का फल अनिवार्य रूप से प्राप्त होता है। इस प्रकार कर्म सिद्धान्त न केवल दार्शनिक चिंतन का विषय है बल्कि यह मानव जीवन के व्यावहारिक पक्ष में भी अत्यंत प्रासंगिक है। चार्वाक को छोड़कर भारतीय दर्शन के आस्तिक एवं नास्तिक सम्प्रदायों में कर्म सिद्धान्त सर्वमान्य है। प्लेटो के रिपब्लिक नामक पुस्तक में भी समाज के विभिन्न वर्गों में कर्मों का विभाजन किया गया है। वह समाज के शासक, सैनिक और उत्पादक वर्गों को अपनी स्थिति के अनुसार कर्म करने के लिए कहता है।

भारतीय धर्मशास्त्रों में वर्णित चार पुरुषार्थों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को साध्य एवं साधन में वर्गीकृत किया जाय तो प्रथम तीन साधन एवं अन्तिम मोक्ष को साध्य माना जा सकता है। धर्म, अर्थ और काम को मूल रूप में देखा जाय तो यह कर्म की ही तीन स्थितियां हैं। जीवन की चार अवस्थाओं में तीन के अन्तर्गत कर्म की ही प्रधानता है। अन्तिम अवस्था मोक्ष की है। यहाँ तक कि जीवन–मुक्ति की अवस्था में भी महापुरुषों द्वारा अनवरत कर्म करते रहने के उदाहरण मिलते हैं।

सन्दर्भ

1. ऋग्वेद 1/1/20
2. भगवद्गीता 3/5
3. आचार्य नरेन्द्र देव, बौद्धधर्म–दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, 2015, पृ० 14
4. उमास्वाति, तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, 8/1
5. षड्दर्शनसमुच्चय पर गुणभद्र की टीका पृ०, 1997 746, सन्दर्भ संगम लाल पाण्डेय, भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, सेण्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ० 97
6. हरिभद्रकृत षड्दर्शनसमुच्चय,
7. पतंजलि, योगसूत्र 2/12
8. पतंजलि, योगसूत्र 2/13
9. कणाद, वैशेषिक सूत्र, 1/1/15
10. कणाद, वैशेषिक सूत्र, 1/2/7, एवं प्रशस्तपाद, पदार्थधर्मसंग्रह पृ० 17
11. कणाद, वैशेषिक सूत्र, 1/1/17
12. तन्त्र रहस्य, पृ० 20 और प्रकरण–पंचिका पृ 81–82, संन्दर्भ राममूर्ति पाठक, भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा, अभिमन्यु प्रकाशन, 1997, पृ० 123
13. श्वेताश्वतर उपनिषद, 1/12